Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
Available online at : www.gisrrj.com
OPEN ACCESS
© 2024 GISRRJ | Volume 7 | Issue 2 | ISSN : 2582-0095

# चातुवर्ण्य-मुनिसंघ का स्वरूप

प्रो. सुदीप कुमार जैन
आचार्य, एवं विभागाध्यक्ष, प्राकृतभाषा-विभाग, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय) नई दिल्ली

**Article Info**
**Article History**
Accepted : 25 March 2024
Published : 05 April 2024

**Publication Issue :**
Volume 7, Issue 2
March-April-2024

**Page Number :** 57-60

**शोधसारांश-** चातुवर्ण्य-मुनिसंघ जैन धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है, जिसमें जैन साधुओं का समूह होता है। मुनिसंघ जैन धर्म का एक महत्वपूर्ण और विशेष अंग है, जिसे 'जैन मुनि' या 'साधु' कहा जाता है। इन साधुओं का मुख्य उद्देश्य आत्मसाक्षात्कार और मोक्ष की प्राप्ति होती है। मुनिसंघ अपने आत्मज्ञान और विरक्ति के माध्यम से समग्र उन्मुक्ति की प्राप्ति की दिशा में प्रयासरत होते हैं। वे ध्यान, तप, व्रत, अहिंसा और अपने जीवन के विभिन्न पहलुओं के माध्यम से इस लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। वे अपने जीवन में अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, और तप का पालन करते हैं। मुनिसंघ जैन समाज में बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि ये साधु और साध्वीओं का समूह समाज के लिए आदरणीय और आदर्श होता है। उन्होंने संसारिक बंधनों से मुक्त होकर आत्मा के प्रकाश की प्राप्ति के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित किया होता है। मुनिसंघ के सदस्य अकेले रहते हैं और साधु-समाज (संघ) में आध्यात्मिक अभ्यास करते हैं। वे विभिन्न तप, ध्यान, प्रवचन और शिक्षा के माध्यम से जैन धर्म के सिद्धांतों को प्रस्तुत करते हैं और समुदाय के लोगों को धार्मिक ज्ञान प्रदान करते हैं। इस प्रकार, जैन मुनिसंघ जैन समाज का एक महत्वपूर्ण स्तंभ है, जो आध्यात्मिक उन्नति और सामाजिक नैतिकता को प्रोत्साहित करता है।

**मुख्य शब्द-** चातुवर्ण्य-मुनिसंघ, जैन, धर्म, मोक्ष, तप, ध्यान, प्रवचन, शिक्षा।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने 'प्रवचनसार' के 'चरणानुयोग-चूलिका' नामक अधिकार की 249 नंबर की गाथा में आगत "चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स" वाक्यांश की टीका में आचार्य जयसेन जी ने लिखा है--

अत्र 'श्रमण'-शब्देन 'श्रमण'-शब्दवाच्या ऋषि-मुनि-यत्यनगारा ग्राह्या:।

इस विषय में वे किसी पूर्वाचार्य के ग्रन्थ का उद्धरण देते हुये लिखते हैं--

"देशप्रत्यक्षवित्-केवलभृद्-इह मुनि: स्याद्, ऋषि: प्रसृत-ऋद्धिरारूढा:, श्रेणियुग्मेऽजनि यति:, अनगारोऽपर: साधुवर्ग:।" ..

अर्थ:-- यहाँ पर 'श्रमण' शब्द से 'श्रमण' शब्द के द्वारा वाच्य ऋषियों, मुनियों, यतियों और अनगारों का ग्रहण करना चाहिये।

**Copyright: ©** the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License.

(कहा भी है कि) "एकदेश-प्रत्यक्षज्ञान (अवधिज्ञान एवं मन:पर्ययज्ञान), एवं सर्वदेश-प्रत्यक्षज्ञान अर्थात् केवलज्ञान के धारक श्रमणों को 'मुनि' कहा गया है।

जो ऋद्धियों के धारक होते हैं, उन्हें 'ऋषि' संज्ञा प्रयुक्त होती है। जो श्रेणि-युग्म अर्थात् क्षपकश्रेणी अथवा उपशमश्रेणी में आरूढ़ हैं, वे 'यति' पद के वाच्य हैं। तथा अन्य सभी साधुसमूह 'अनगार' कहे गये हैं।

इस उद्धरण में आगत विषय को अपने शब्दों में स्पष्ट करते हुये आचार्य जयसेन जी लिखते हैं--

ऋषय: ऋद्धिं प्राप्ता:, मुनय: अवधि-मन:पर्यय-केवलिनश्च। यतय: उपशमक-क्षपक-श्रेण्यारूढा:। अनगारा: सामान्यसाधव:। कस्मात्? सर्वेषां सुख-दु:खादि-विषये समता-परिणामोऽस्ति इति।

अर्थ:- 'ऋषि'-गण तो ऋद्धियों को प्राप्त श्रमणों को कहा गया है, जबकि 'मुनि'-गण अवधिज्ञान-मन:पर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान के धनी होते हैं। 'यति'-गण उपशमश्रेणी एवं क्षपकश्रेणियों को आरूढ करनेवाले श्रमण कहे गये हैं। 'अनगार' शब्द से सभी सामान्य-साधुगण कहे गये हैं।

ऐसा क्यों है?-इसका उत्तर देते हुये आचार्य लिखते हैं कि सभी सुख-दु:खादि के विषय में जिनके समता-परिणाम वर्तता है, इसकारण से उन्हें 'श्रमण' कहा जाता है।

विशेष-अभिप्राय:- इन चारप्रकार के श्रमणों का संघात ही 'संघ' या 'श्रमणसंघ' संज्ञा से कहे जाने योग्य है। इससे स्पष्ट है कि मूलत: श्रमणसंघ में आर्यिकाओं, ऐलक-क्षुल्लकों, श्रावक-श्राविकाओं की न तो गणना (गिनती) की गयी थी और न ही निर्ग्रन्थ-मुनिवरों/श्रमणों के साथ इनके रहने का कोई प्रावधान कभी किया गया है। निर्ग्रन्थ-मुनिवरों की चर्या की पवित्रता की रक्षा एवं श्रीवृद्धि तभी संभव है, जब श्रमणों के 'संघ' में इन चारों के अतिरिक्त न तो किसी अन्य का समावेश किया जाये और न ही किसी के प्रवेश की अनुमति हो।

यद्यपि इनमें से कुछ आचार्यों ने व अन्य विद्वानों आदि ने "चातुर्वर्ण्य-संघ में मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका को समाहित किया है", किन्तु यह परवर्ती समावेश प्रतीत होता है, न कि मूलानुगामी-प्रयोग। यह तो परवर्ती किसी कारणवश प्रचलित की गयी अवधारणा है, जिसकी वस्तुत: तथ्यात्मकता नहीं है। क्योंकि मूलत: जब 'संघ' शब्द ही निर्ग्रन्थ-मुनिवरों के लिये प्रयुक्त होता है, तब अन्य किसी छठवें-सातवें-गुणस्थान से अधस्तन-चर्यावालों का उस संघ में स्थान कैसे हो सकता है?

जब-जब निर्ग्रन्थ-श्रमणों के संघ में आर्यिकाओं, ऐलक-क्षुल्लकों को प्रवेश दिया गया, इतिहास साक्षी है कि उस 'संघ' में विसंवादों का प्रादुर्भाव हुआ ही है। विचार कीजिये कि जब सच्चे वैराग्य-पथ के पथिकों आर्यिकाओं, ऐलक-क्षुल्लकों के प्रवेश से निर्ग्रन्थ-मुनिवरों के संघ का स्वरूप विकृत एवं विसंवादित हो सकता है, तो फिर आजकल जो इनकी श्रेणी में तक नहीं आते हैं, ऐसे तथाकथित 'भैया जी' और 'दीदी जी' को न केवल प्रवेश दिये जाने, बल्कि उन 'श्रमणों के संघ की व्यवस्था का सूत्रधार' इन्हें बना दिये जाने पर निर्ग्रन्थ-मुनिवरों के 'संघ' की गरिमा एवं पवित्रता कैसे मटियामेट हुई है?-- इसकी कल्पना भी आप कर सकते हैं और प्रत्यक्ष भी सम्पूर्ण जैनसमाज देख व अनुभव कर रही है।

निर्ग्रन्थ-जैन-श्रामण्य की गरिमा और पवित्रता यदि आज अन्वेषणीय हो गयी है, तो उसका एकमात्र कारण 'संघ' की गरिमा के शाश्वत-मूल्यों का निरन्तर बढ़ता हुआ क्षरण ही है। अत: आज के सन्दर्भों में जैनसमाज को भलीभाँति समझना चाहिये कि वास्तव में निर्ग्रन्थ-जैन-श्रामण्य में 'संघ' की अवधारणा क्या थी और इसके अंग कौन-कौन थे? उनकी गरिमा एवं मर्यादा कैसी थी?-- यही सब बताने के पवित्र-उद्देश्य से मैंने यह संक्षिप्त-आलेख यहाँ एक ग्रन्थ के आधार पर प्रस्तुत किया है।

किन्तु ऐसा नहीं है कि जिनाम्नाय में 'संघ' की यह विवेचना मात्र प्रवचनसार जी ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य जयसेन जी ने ही प्रस्तुत की है। कई अन्य महनीय-आचार्यों एवं मनीषियों ने भी यही अवधारणा अपने ग्रन्थों में लिखी है और इसका पुरजोर समर्थन भी किया है। उदाहरण के तौर पर कुछ उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैं--

1. रत्नत्रयोपेत: श्रमणगण: संघ:।[1]

2. चातुर्वर्ण-श्रमण-निवह: संघ:।[2]

3. आचार्य अकलंकदेव[3]

4. चारित्रसार[4]

5. ऋषि-मुनि-यति-अनगार-निवह: संघ:[5]

इतना ही नहीं, आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि संघ में चारों वर्ण के श्रमणों का होना अनिवार्य नहीं है। इन में से कोई एक भी हो, वह नितान्त अकेला भी हो; तो उसे भी 'संघ' माना गया है। किन्तु इसके लिये किसी उन्होंने यह अनिवार्यता रखी है कि वह श्रामण्य के गुणों से परिपूर्ण हो। इसीलिये उन्होंने स्पष्ट किया है कि 'संघ' का अभिप्राय यह नहीं है कि बहुत से दिगम्बर-मुद्रा के धारकों को एकजुट कर दिया जाये और उनकी पिच्छियों की गिनती करके संघ की महत्ता या श्रेष्ठता बतायी जाये कि "अमुक-मुनिराज के साथ तो इतनी पिच्छियाँ हैं, उनका इतना बड़ा 'संघ' है।" पिच्छियों की गणना करके संघत्व की श्रेष्ठता का निर्धारण नहीं किया जा सकता है, बल्कि गुणों की श्रेष्ठता के आधार पर ही संघत्व का निर्धारण जिनाम्नाय में किया गया है। इसीलिये जैनाचार्यों ने "गुणसंघातो संघ:" की परिभाषा दी है। जिसका अभिप्राय है कि मोक्षसाधन के अनुरूप श्रेष्ठ-गुणों की विविधता एवं बहुलता का पुंजीभूत होना ही 'संघत्व' का निर्धारक है। मात्र पिच्छियों की संख्या या गणना के आधार पर जिनाम्नाय में संघत्व की अवधारणा नहीं की गयी है।

संख्या-बल को संघ की श्रेष्ठता का निर्णायक जिनाम्नाय में कभी भी नहीं माना गया है। क्योंकि जिस तथाकथित 'संघ' में निर्ग्रन्थ-श्रामण्य के अनुरूप महनीय-गुणों का संघटन ही नहीं है और मात्र गिनती का संख्याबल है, ऐसे 'संघ' को आचार्यों ने मात्र 'संग' अर्थात् 'जन-समुदाय' ही माना है। और उन्होंने ऐसे समुदाय का अंग बनने को मुनिधर्म की गौरव-गरिमा से विहीन होने के कारण मात्र 'भीड़' के रूप में माना है। और कहा है कि-

**"वरं गण-पवेसादो, विवाहस्स पवेसणं।"[6]**

अर्थात् ऐसे 'संघ' का अंग बनने से तो विवाह करके गृहस्थ रहना ही श्रेष्ठ है।

इतना ही नहीं, उन्होंने तो ऐसे जन-समुदाय रूप संघों को "विवाहे रीगुप्पत्ती, गणो दोसाणमायरो" अर्थात् विवाह करने से तो एक व्यक्ति में ही राग बढ़ता है, किन्तु संघ में प्रवेश तो 'दोषों का घर' है-- यह कहकर तिरस्कृत किया है।

किन्तु इस कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि संघ में रहकर उसके अनुशासन का परित्याग करके 'एकलविहारी' बनकर रहना अच्छा है और श्रमणसंघ में रहकर, उसका अनुशासन मानते हुये अपने गुणों एवं चर्या को निरन्तर समुन्नत बनाने के लिये प्रयासरत रहना अनुचित है।

क्योंकि जिनाम्नाय में तो मात्र 'जिनकल्पी'-श्रमणों को ही एकलविहार की छूट दी गयी है और वह भी अनिवार्य नहीं कही गयी है।

यहाँ प्रसंग-प्राप्त 'जिनकल्पी' -मुनिवरों का स्वरूप समझना आवश्यक है।

जो सच्चे भावलिंगी, निर्ग्रन्थ-मुनिराज पूरीतरह से मुनिधर्म के गुण-दोषों से परिचित होते हैं और प्रत्येक छोटे या बड़े दोष की जिनाम्नाय-सम्मत प्रायश्चित्त आदि की बारीकियों के सुविज्ञ होते हैं। इसके साथ ही जो इतने निष्पक्ष होते हैं, कि दोषों के बारे में अपना या पराया का भेद नहीं करते हैं। साथ ही उनकी निवारण की विधि को अपने साथ पूरी-सावधानी से लागू करने में समर्थ होते हैं। ऐसे नि:स्पृही-वृत्ति के धनी, जिनाम्नाय-सम्मत मुनिधर्म के मर्मज्ञ एवं दोष-निवारण में भरपूर-आत्मबल के धनी भावलिंगी-मुनिराजों को ही जिनाम्नाय में 'जिनलिंगी' कहा गया है। ये सभी अनिवार्यत: उग्र-पुरुषार्थी, जिनशासन के मर्मज्ञ एवं वर्धमानचर्या के धनी ही होते हैं।

इनके अतिरिक्त जिनके जिनशासन के परिपक्व-ज्ञान में, विशेषत: मुनिधर्म-संबंधी प्रत्येक पक्ष के सूक्ष्मातिसूक्ष्म-विवेक में, स्वयं निरन्तर वर्धमान-चारित्र के स्वत: अनुपालन में, दोषों को परखने एवं उन्हें दूर करने की मुनिधर्म-सम्मत विधियों के अनुपालन में निरन्तर तत्पर रहने में अपने आपको असमर्थ या न्यून पाते हैं ; जिनका अपने परिणामों पर, वचन पर या कायिक-प्रवृत्ति पर आत्मानुशासन नहीं है ; उन्हें जिनशासन में 'स्थविरलिंगी' माना गया है और ऐसे मुनिवरों को अनिवार्यत: संघ में ही रहकर मुनिधर्म एवं विशेषत: प्रायश्चित्त-विधान में निष्णात निर्दोष-चर्यावाले संघपति/आचार्य के सान्निध्य में उनके सजग-अनुशासन में रहकर ही मुनिधर्म-साधन करने का निर्देश है।

'स्थविर' शब्द का प्रयोग सामान्यत: 'वयोवृद्ध, रुग्ण या अशक्त' के अर्थ में समझा जाता है। किन्तु मुनिधर्म में इस प्रसंग में मात्र 'मुनिधर्म-साधन में अपरिपक्व' या 'प्रायश्चित्त-विधान के अनिष्णात' जैसे अभिप्रायों को ही 'स्थविरलिंगी' के रूप में ग्रहण किया गया है।

वर्तमान में तो जब निर्ग्रन्थ-मुनिवरों की मुनिधर्म की आधारभूत 'भावलिंगी-चर्या' की ही दुर्लभता है, और आत्म-परिष्कार के प्रति अतिसजग-वृत्तिवाले अदृष्टवत् हो चुके हैं ; तब 'जिनलिंग' और जिनलिंगियों की उपलब्धता की कल्पना तक करना विषम-कार्य है। अत: इस काल व परिस्थितियों में मात्र संघ में योग्य-आचार्य एवं वरिष्ठ-मुनिवरों से अनुशासित रहकर ही मुनिधर्म-साधन करना चाहिये।

'संघ' के स्वरूप एवं व्यावहारिकता को सांकेतिकरूप से समझाने के पवित्र-उद्देश्य से यह संक्षिप्त-आलेख तथ्यात्मकरूप से प्रस्तुत किया गया है।

**संन्दभग्रन्थ-**

1. सर्वार्थसिद्धि-6/13
2. सर्वार्थसिद्धि-9/24
3. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 6/13/3 & 9/24/442
4. चारित्रसार, 151/4
5. भावपाहुड, गा. 78 की टीका
6. द्रष्टव्य, मूलाचार, 10/96